THE TIMES OF INDIA

Date: 01-09-18

Shirty Rules

In tennis men have a topless advantage

TOI Editorials

The Grand Slams seem to keep breaking into a sweat over women's bodies. Serena Williams is being banned from wearing a catsuit at future French Opens and Alize Cornet has received a US Open code violation for changing her T-shirt on court. The irrepressible Serena has bounced back with a tutu and fishnet stockings, she will keep outfoxing the body police. The Cornet reprimand was such a brazen display of sexist double standards, that it has forced US Open organisers to clarify "this will not happen moving forward."

It's a hot and humid NYC tournament this year. Players have been sweating bucket loads. Several have had to quit their matches. Like Novak Djokovic explained graphically, everything feels like it is boiling, body, brain, everything. So he took off his shirt during a break. As did other men. As Rafael Nadal does with charming regularity. Cornet didn't really join their party, she just realised that her T-shirt was on backwards, took it off and put it right. She was wearing a sports bra so you couldn't even say she was topless like the men.

Serena's catsuit is accused of covering too much and Cornet of uncovering too much. All this dressing down is in the guise of "respect the game". But that metric should only be concerned with the skills a player brings to the game. Criticising what she wears to it or doesn't is just discrimination.

दैनिक भास्कर

Date: 01-09-18

राज्य के स्तर पर जातियों को मान्यता के परिणाम

अगर किसी को जाति के आधार पर आरक्षण मिल रहा है तो उसका आधार संबंधित राज्य का प्रमाण-पत्र ही होगा

संपादकीय

सुप्रीम कोर्ट की संवैधानिक पीठ ने अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आरक्षण की व्यवस्था को राज्यों के स्तर पर ही मान्यता देने की स्थिति को कायम रखते हुए जहां अराजकता से बचने की कोशिश की है वहीं सामाजिक गतिशीलता और भारतीय नागरिकता के लचीले दृष्टिकोण को बाधित भी किया है। न्यायमूर्ति रंजन गोगोई की अध्यक्षता में पांच जजों की खंडपीठ ने संवैधानिक व्यवस्था को पुनर्परिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है कि संविधान के अनुच्छेद 341 और अनुच्छेद 342 के अनुसार किसी भी नागरिक का जाति का स्तर सिर्फ उसी राज्य में रहता है वह उसे लेकर दूसरे राज्य में पलायन नहीं कर सकता।

यानी दूसरे राज्य में उस जाति के प्रमाण-पत्र की मान्यता नहीं होगी। अगर किसी को जाति के आधार पर आरक्षण मिल रहा है तो उसका आधार संबंधित राज्य का प्रमाण-पत्र ही होगा। यानी एक राज्य का अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति दूसरे राज्य में उस जाति का नहीं माना जाएगा भले ही उसने वहां रोजगार और शिक्षा के लिए पलायन किया है। न्यायालय का कहना है कि अगर ऐसा किया गया तो अनुच्छेद 341 और 342 का महत्व ही समाप्त हो जाएगा। अदालत ने चेतावनी दी है कि जातियों की सूची के साथ राज्य छेड़छाड़ भी नहीं कर सकते। किस राज्य में कौन-सी जाति आरक्षण की श्रेणी में है उसके बारे में संसदीय सूची ही प्रामाणिक होगी। न्यायालय ने यह व्यवस्था देश में लगातार हो रहे आरक्षण संबंधी आंदोलनों और विभिन्न जातियों द्वारा अनुसूचित जाति और जनजाति की सूची में शामिल किए जाने की मांग और आरक्षण व जातियों की नई-नई मांगों की अराजकता से बचने के लिए दी है। लेकिन इसके कुछ दुष्परिणाम भी हैं।

जब कोई नागरिक किसी दूसरे राज्य में ब्याह करता है या नौकरी के लिए जाता है तो उसके साथ उसके जन्म वाले राज्य का प्रमाण-पत्र ही रहता है। इससे भारत की एकता के सदर्भ में होने वाली सोशल इंजीनियरिंग में ही नहीं रुकावट आती बल्कि वह व्यक्ति आरक्षण की सुविधा के लिए भी दो राज्यों के बीच भटकता फिरता है। आरक्षण लाया इसलिए गया था कि जाति की व्यवस्था टूटे और समाज में समानता और समरसता आए लेकिन, हो उल्टा रहा है। इससे समाज पुराने खांचों में जकड़ता जा रहा है और नए और खुले समाज के निर्माण में दिक्कतें भी उत्पन्न हो रही हैं। इसलिए जरूरत एक नई सोच और व्यवस्था की भी है।

Date: 01-09-18

लगातार ऊंची वृद्धि दर से ही आएंगे अच्छे दिन

पश्चिम की तर्ज पर हमारे यहां वृद्धि दर पर संदेह जताना ठीक नहीं, इससे हमें बहुत फायदे भी मिले हैं

गुरचरण दास

अरविंद सुब्रह्मण्यम ने मुख्य आर्थिक सलाहकार पद से विदा होते हुए जो कहा उससे हमारी शब्दावली में एक नया जुमला आ गया 'कलंकित पूंजीवाद'। इससे उनका आशय यह था कि मुक्त बाजारों को अभी भी भारत में सुविधाजनक

जगह नहीं मिली है। समस्या और भी गहरी है। कई भारतीयों ने बिना सोचे-समझे पश्चिम में उपजी सनक की तर्ज पर आर्थिक वृद्धि पर सवाल खड़े करने शुरू कर दिए हैं। हम शायद भूल गए हैं कि उच्च वृद्धि से ही कोई गरीब देश धनी बनने की उम्मीद रख सकता है। वृद्धि पर संदेह रखना सही हो सकता है, जब आपकी प्रतिव्यक्ति आय 40,000 डॉलर (28.30 लाख रु.) हो पर तब नहीं जब यह 2,000 डॉलर (1.41 लाख रु.) से भी कम हो। यूपीए-2 की नाकामी का आंशिक कारण यह भी था कि उसने वृद्धि की जगह समानता को अपना लिया। लेकिन, मोदी भी तो अब तक 'अच्छे दिन' नहीं दे पाए हैं, क्योंकि उन्होंने नौकरियां पैदा करने और वृद्धि पूरा ध्यान नहीं लगाया।

वर्ष 2010 की शुरुआत में एक टीवी कार्यक्रम के दौरान मैं खुशी जता रहा था कि भारत की जीडीपी वृद्धि पूर्ववर्ती तिमाही में 10 फीसदी की दर पार कर गई। मैंने कहा कि इसका खास महत्व यह है कि दर लगातार 8 फीसदी की अप्रत्याशित दर से करीब एक दशक तक बढ़ती रही। अंतत: भारत 1991 के आर्थिक सुधारों की फसल काट रहा था और यदि इसी दर पर दो और दशकों तक चलता रहता तो भारत सम्माननीय मध्यवर्गीय देश बन जाता। मुझे तब आश्चर्य हुआ जब अन्य पैनलिस्ट मुझ पर टूट पड़े। पहले ने इसे 'जॉबलेस ग्रोथ' कहकर खारिज कर दिया। दूसरे ने मुझे 'समावेशी वृद्धि' की जरूरत पर शिक्षा दी। कोई भी देश साल दर साल ऐसी वृद्धि दर के लिए तड़पेगा और यहां दो सम्मानीय राजनेता थे, जिन्हें इस पर खेद था। सोनिया गांधी की सलाहकार परिषद के दिनों में वृद्धि को लेकर संदेहवाद चरम पर था। नतीजतन सरकार ने वृद्धि से अपना ध्यान हटाकर मनरेगा, खाद्य सुरक्षा और गरीबों को खैरात बांटने पर लगा दिया। इसी वजह से कुख्यात 'पॉलिसी पैरालिसिस' की स्थिति पैदा हुई। अचरज नहीं कि आर्थिक वृद्धि 2011 के बाद गोता खा गई और मोदी को विकास के वादे के सहारे सत्ता में आने में मदद मिली। सात साल बाद भी अर्थव्यवस्था 2011 के पूर्व की रफ्तार नहीं पकड़ सकी है और मोदी ने भी वादा पूरा नहीं किया।

धनी देशों में जीडीपी वृद्धि पर सवाल उठाना समझ में आता है, जहां हाल के दशकों में आर्थिक वृद्धि के फायदों का समान बंटवारा नहीं हुआ। मानव इतिहास में गंभीर आर्थिक वृद्धि 1800 के करीब औद्योगिक क्रांति के साथ शुरू हुई। ब्रिटेन इसे अनुभव करने वाला पहला देश था और वह तब से निरंतर वृद्धि करता रहा है। वास्तविक संदर्भों में वहां का औसत वर्कर 1800 में जो कमाता था, वह अब 12 गुना ज्यादा कमाता है। पिछले दो सौ वर्षों में दुनिया के औसत जीवन-स्तर में अविश्वसनीय तरक्की हुई है।

वर्ष 1 से 1800 तक प्रतिव्यक्ति औसत विश्व जीडीपी 200 डॉलर (14 हजार रु.) से नीचे स्थिर रहा लेकिन, 2000 आते-आते यह बढ़कर 6,539 डॉलर (4.63 लाख रु.) तक पहुंच गया। जीवन-स्तर में यह वृद्धि अपूर्व आर्थिक वृद्धि का नतीजा था। स्वतंत्रता के बाद भारत की वृद्धि भी तुलनात्मक आधार पर 1950 के 71 डॉलर (5020 रु.) प्रति व्यक्ति से बढ़कर 2018 में 1975 डॉलर (1.40 लाख रु.) प्रतिवर्ष हो गई। चीन में तो यह और भी नाटकीय रहा। अपनी किताब 'द ग्रोथ डेल्यूज़न' में जीडीपी की अवधारणा पर सवाल उठाने वाले डेविड पाइलिंग स्वीकार करते हैं, 'यदि आप गरीब हैं तो आर्थिक वृद्धि रूपांतरण लाने वाली हो सकती है।'

मैं वृद्धि पर संदेह करने वालों से पूछता हूं कि क्या दुनिया में औसत जीवन-स्तर में असाधारण वृद्धि इतनी बुरी चीज है? इस अवधारणा की स्वाभाविक सीमाएं हैं। जीडीपी से आय का वितरण, सरकारी सेवाएं, साफ हवा, जीवन निर्वाह में लगे किसान का काम नहीं दिखता और अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में लगे लोग नहीं दिखते, जो दुनिया की आबादी के एक-चौथाई के बराबर हैं। न इसमें ज्यादातर महिलाओं द्वारा घर में किया जाने वाला काम शामिल होता है। यदि अर्थव्यवस्था तेजी से बढ़ रही है और बड़ी संख्या में लोगों को फायदा नहीं होता, तो यह पूछना जायज होगा कि यह

जीडीपी वृद्धि किसलिए है? लेकिन, एक गरीब देश के लिए यह सच नहीं है, जहां बेतहाशा वृद्धि ने अत्यधिक फायदे दिए हैं और वामपंथ की इस भविष्यवाणी को खारिज किया कि बाजार कामगार वर्ग को गरीब बना देंगे।

वृद्धि पर संदेह जताने वाले जापान का क्लासिक उदाहरण देते हैं, जहां वृद्धि 25 वर्षों तक ठहरी रही और फिर भी गिरती या स्थिर कीमतों के साथ जीवन-स्तर उठता प्रतीत होता है। 1990 और 2007 के बीच जापान का वास्तविक प्रतिव्यक्ति जीडीपी 20 फीसदी बढ़ा था। रहस्य नॉमिनल जीडीपी के इस्तेमाल की गलती में निहित है, जबकि वृद्धि को नापने का समझबूझ भरा तरीका तो वास्तविक संदर्भों में प्रतिव्यक्ति जीडीपी है। मैं पर्यावरणविदों से पूरी तरह सहमत हूं, जो अधिकाधिक पानी की खपत, अधिकाधिक कार्बन डाइऑक्साइड उगलने और अधिकाधिक कोयला जलाने को लेकर चिंतित रहते हैं।

लेकिन, आर्थिक वृद्धि की तुलना प्रदूषण से करना गलत है। स्वच्छ पर्यावरण के साथ सीमाहीन आर्थिक वृद्धि सैद्धांतिक रूप से संभव है। समस्या जीडीपी के साथ नहीं है बल्कि इसमें है कि हम नीति-निर्माण में इसका कैसे इस्तेमाल करते हैं। यदि मानव विकास या प्रसन्नता सूचकांक जैसे अन्य सूचकांकों के साथ इस्तेमाल किया जाए तो हम मानव कल्याण का बेहतर आकलन कर सकेंगे। वृद्धिगत असमानता और बाजार की चिंता करने की बजाय हमें सबके लिए अच्छे स्कूलों व अस्पतालों के माध्यम से अवसरों में सुधार के आधार पर आकलन करना चाहिए। याद रखें कि हम विकास के जिस चरण पर है वहां सतत ऊंची आर्थिक वृद्धि, नौकरियां और विश्व अर्थव्यवस्था के प्रति खुलापन समृद्धि की ओर मुख्य रास्ता है। हालांकि, मोदी ने वह सतत ऊंची वृद्धि नहीं दी है, जो 'अच्छे दिन' लाने के लिए आवश्यक है। उन्होंने इसके लिए परिस्थितियां निर्मित की हैं जैसे जीएसटी, दिवालिया कानून और बिज़नेस करने की आसानी में सुधार। इसलिए 2019 में कोई भी चुनाव जीते, भारत को अगले 5-10 साल में इसका फायदा मिलने लगेगा, क्योंकि देश एक बार फिर सतत ऊंची वृद्धि की दहलीज पर है।

नईदुनिया

Date: 01-09-18

शहरी नक्सलियों के खतरनाक मंसूबे

हैरानी है कुछ लोग ऐसे खतरनाक तत्वों का समर्थन केवल इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें हर मसले पर मौजूदा सरकार का विरोध करना है।

अभिनव प्रकाश , (लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्राध्यापक तथा स्तंभकार हैं)

पुणे पुलिस की ओर से कथित 'शहरी नक्सलियों की गिरफ्तारी के बाद देश का ध्यान एक बार फिर भारत के सबसे हिंसक आंदोलन यानी माओवाद की तरफ गया है। माओवाद को भारत में नक्सलबाड़ी गांव के नाम पर नक्सलवाद के नाम से भी जाना जाता है। पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी गांव में ही सबसे पहले माओवादियों ने हिंसक आंदोलन की शुरूआत की थी। अगर यह कहा जाए तो शायद लोग चकित होंगे कि भारत में हिंसक हमलों में होने वाली मौतों में सबसे अधिक मौतों का कारण नक्सली आतंकवाद है। इसमें चकित होने की कोई बात नहीं, क्योंकि यह एक तथ्य है कि भारत में उग्रवाद से होने वाली सबसे अधिक मौतों का कारण जिहादी उग्रवाद नहीं, बल्कि वामपंथी उग्रवाद है। इसी कारण नक्सलवाद आतंकवाद का पर्याय बन गया है। अमेरिका के आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार सीरिया और इराक में कहर बरपाने वाले इस्लामिक स्टेट और अफगानिस्तान के लिए नासूर बने तालिबान के बाद भारत का नक्सली संगठन विश्व का तीसरा सबसे हिंसक आतंकी संगठन है।

नक्सलवादी आखिर चाहते क्या हैं? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर है- दो साल पहले जेएनयू में लगा कुख्यात नारा 'भारत तेरे टुकड़े होंगे। जाहिर है कि इसके बाद यह सवाल उठेगा कि वे ऐसा क्यों चाहते हैं तो जवाब यह है कि नक्सली भारतीय गणतंत्र और इसके 'बुर्जुआ संविधान को नष्ट कर माओवादी चीन के मॉडल पर कम्युनिस्ट राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। हमें इससे परिचित होना चाहिए कि नक्सली 1962 के भारत-चीन युद्ध के समय 'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन है का नारा देने वालों की ही जमात हैं। चूंकि उनकी नजर में भारत में कम्युनिस्ट राज्य की स्थापना में सबसे बड़ी बाधाएकीकृत भारतीय राज्य है, इसलिए वे सबसे पहले उसे ही छिन्न्-भिन्न् करना चाहते हैं। दशकों के सशस्त्र संघर्ष और आतंक के बाद नक्सली इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि एकीकृत भारत को परास्त करना असंभव है। वे इस निष्कर्ष पर इसलिए पहुंच गए हैं, क्योंकि उन्हें यह दिख रहा है कि भारतीय सेना के उनके खिलाफ उतरने के पहले ही उनकी हालत पस्त हो रही है। अब वे भारत के विघटन की फिराक में हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि नेपाल की तरह छोटे-छोटे राज्यों पर कब्जा करना आसान होगा। नक्सलवादी और वामपंथी सैद्धांतिक तौर पर भारत को एक कृत्रिम राष्ट्र मानते हैं। उनकी यह भी समझ है कि भारत एक दमनकारी साम्राज्यवादी संरचना है जिसने उपमहाद्वीप की विभिन्न् राष्ट्रीयताओं पर कब्जा कर रखा है। उनके अनुसार भारत का अस्तित्व ही समस्या की जड़ है और यहां की जनता को गरीबी, भुखमरी और अन्याय से आजादी भारत को राष्ट्र और राज्य के रूप में नष्ट किए बिना नहीं मिल सकती।

दरअसल यही मौलिक वामपंथी लाइन है और इसी कारण वामपंथियों ने आजादी के पहले न केवल पाकिस्तान बनाए जाने का पुरजोर समर्थन किया था, बल्कि भारत को करीब 30 और हिस्सों में बाटने की वकालत भी की थी। आज भी वामपंथी किस्म-किस्म के अलगाववादी संगठनों को अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर समर्थन देते हैं और उनकी मांगों को बल प्रदान करते हैं। यह काम सार्वजनिक जीवन में सक्रिय उनका वह कैडर करता है जो अकादमिक और साहित्यिक जगत के साथ-साथ पत्रकारिता, गैरसरकारी संगठनों और यहां तक कि कॉर्पोरेट जगत में भी मौजूद है। यही कैडर शहरी नक्सली है। मोटे तौर पर इनके मुख्य काम हैं अपने हथियारबंद साथियों को पैसा एवं संदेश पहुंचाना, शहरों में उनके लिए सुरक्षित ठिकाने तैयार करना और जरूरत पड़ने पर गिरफ्तार नक्सलियों को मानवाधिकार व कानून की दुहाई देकर बचाना। इसके अलावा शहरी नक्सली माओवादी विचारधारा और एजेंडे का प्रचार-प्रसार भी करते हैं। इसी क्रम में वे मीडिया और शैक्षिक संस्थानों के जरिए भारतीय शासन व्यवस्था के खिलाफ माहौल भी बनाते हैं।

2009 में कांग्रेसनीत तत्कालीन संप्रग सरकार द्वारा माओवादियों के खिलाफ शुरू किए गए 'ऑपरेशन ग्रीन हंट ने जब उन्हें भारी क्षति पहुंचाई तो उन्होंने अपनी रणनीति में बदलाव करते हुए शहरी इलाकों में अपने विस्तार पर बल देना शुरू किया। इसी के बाद 'शहरी नक्सलियों की गतिविधियों में तेजी आई। उन्होंने शहरी इलाकों में अपनी गुपचुप सक्रियता बढ़ाने के साथ ही देश में चल रहे विभिन्न् अलगाववादी व जिहादी संगठनों से तालमेल बनाना शुरू किया। पुणे पुलिस की ओर से गिरफ्तार पांच लोगों में शामिल वरवर राव का कहना भी है कि हम सबका दुश्मन एक ही है- दिल्ली।

माओवादियों की समझ से दिल्ली को कमजोर करने का सबसे आसान तरीका है अलगाववादी ताकतों को मजबूत करना। वे शहरों में संघर्ष और टकराव की स्थिति पैदा करने की फिराक में रहते हैं, ताकि भारतीय राज्य व्यवस्था पंगु हो जाए। अलग-अलग चल रहे लोकतांत्रिक आंदोलनों जैसे दलितों, मजदूरों और किसानों के आंदोलन में घुसपैठ करना और उन्हें हिंसक रास्ते पर मोड़ना भी माओवादी रणनीति का अहम हिस्सा है। माओवादी यह मानते हैं कि शहर भारतीय-राज्य और पूंजीपतियों की शक्ति के केंद्र हैं और चूंकि शहरों में ही प्रशासन, न्यायपालिका, विधायिका, सेना आदि की प्रभावी उपस्थिति है, इसलिए वहां अराजकता पैदा करके राज्य के संसाधनों और शासकों का ध्यान शहरों की सुरक्षा में ही फंसा देना चाहिए। उनके मुताबिक इससे भारतीय शासन के लिए अलगाववादियों और जिहादी ताकतों से मुकाबला करना मुश्किल हो जाएगा और जब भारत का विघटन यानी 'टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे तथा दिल्ली की सत्ता एवं शक्ति सिकुड़ जाएगी तो अनिर्णय-अराजकता की हालत में माओवादी अपनी गुरिल्ला सेना के जरिए विभिन्न् हिस्सों पर कब्जा करके कम्युनिस्ट राज्य की स्थापना कर लेंगे।

यह भी समझना आवश्यक है कि भूमिगत नक्सलियों और उनके शहरी कैडर यानी शहरी नक्सलियों का दुश्मन मोदी, भाजपा या संघ नहीं, बल्कि भारत है। दिल्ली में बैठने वाली हर सरकार उनके लिए फासीवादी और जनविरोधी है। इसी कारण प्रधानमंत्री रहते समय मनमोहन सिंह ने नक्सलवाद को आतंरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ी चुनौती बताया था। तत्कालीन गृहमंत्री पी. चिदंबरम ने भी बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता और एनजीओ का चोंगा पहने शहरी नक्सलियों को भूमिगत नक्सलियों का सुरक्षा कवच बताया था, लेकिन आज कांग्रेस उन संदिग्ध नक्सलियों के समर्थन में खड़े होना पंसद कर रही है, जिनमें से कुछ को खुद उसकी सरकार गिरफ्तार कर चुकी है।

माओवादियों की नजर में कांग्रेस, भाजपा, सपा, बसपा, द्रमुक, अन्न्ाद्रमुक अथवा केजरीवाल, चंद्रबाबू नायडू या ममता बनर्जी में कोई अंतर नहीं है। वे इन सबको या तो लेबर-कैंप में भेज देंगे या लाइन में खड़ा करके गोलियों से भून देंगे, जैसा कि वे अपने नियंत्रण वाले क्षेत्रों में करते हैं। हिटलर तो सिर्फ 50-60 लाख लोगों को मारकर बदनाम है, लेकिन वामपंथियों ने जिन देशों में सत्ता पाई, वहां करोड़ लोग मार दिए। उन्होंने इन सबके खात्मे को जरूरी भी बताया। यह हैरान करता है कि कुछ लोग ऐसे खतरनाक तत्वों का समर्थन केवल इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें हर मसले पर वर्तमान सरकार का विरोध करना है। इन लोगों ने मोदी विरोध और देश विरोध का अंतर खत्म कर दिया है। उम्मीद है कि सरकार में रहे और नक्सलियों के इरादों से परिचित कांग्रेस सरीखे दल अंतत: विवेक से काम लेंगे।

जनसत्ता

Date: 31-08-18

सचल वित्त

संपादकीय

बैंक सेवाओं तक आम लोगों की पहुंच सुनिश्चित करने की मंशा से केंद्र ने डाकघरों को भी बैंकों की तरह काम करने की सुविधा प्रदान करने की घोषणा की थी। अब वह सेवा शुरू होने जा रही है। केंद्रीय मंत्रिमंडल ने इस सेवा के लिए एक हजार चार सौ पैंतीस करोड़ रुपए की मंजूरी दे दी है। अब अगले महीने से डाकघर बैंकों की तरह काम करना शुरू कर देंगे। उनमें कर्ज के लेन-देन के अलावा बैंकों से संबंधित लगभग सभी सुविधाएं उपलब्ध होंगी। एक लाख रुपए तक का लेन-देन संभव हो सकेगा। इस योजना की शुरुआत में देश भर में साढ़े छह सौ शाखाएं और सवा तीन हजार ऐसे केंद्र शुरू हो जाएंगे, जहां से लोग सेवाओं का लाभ उठा सकेंगे। आगे चल कर देश भर में कुल डाकघरों की संख्या बढ़ कर दो गुनी हो जाएगी। अब डाक कर्मचारी सचल बैंककर्मी का भी दायित्व निभा सकेंगे। अभी तक डाकघरों की मार्फत लोग आमतौर पर धनादेश यानी मनीआर्डर वगैरह भेज अथवा प्राप्त या छोटी राशि जमा कर पा रहे थे, पर अब उनमें बैंकों की तरह खाते खुलवा कर न सिर्फ बचत संबंधी सेवाओं का लाभ उठा सकेंगे, बल्कि सरकारी योजनाओं के लाभ भी प्राप्त करेंगे। यह निस्संदेह दूर-दराज के ग्रामीण इलाकों में रहने और छोटी आमदनी वाले लोगों के लिए लाभकारी सुविधा होगी।

यों डाकघरों का काम मुख्य रूप से चिट्ठियां और छोटी राशि वाले मनीआर्डर वगैरह लोगों तक पहुंचाना रहा है। पर अब चिट्ठियों आदि के लिए अनेक तरह की तकनीकी और निजी सेवाएं शुरू हो जाने से इनका चलन कम हो गया है। इसी तरह इंटरनेट बैंकिंग और धन हस्तांतरण की त्वरित सुविधाएं आने से मनीआर्डर सेवा का भी कम ही लोग इस्तेमाल करते हैं। जब तार सेवाओं का चलन घट गया था, तो उसे बंद करके उसके कर्मचारियों को डाक सेवा से जोड़ दिया गया। उसी तरह डाक विभाग की जो सेवाएं पुरानी पड़ गई हैं, उनके स्थान पर नई सेवा शुरू करने से कर्मचारियों का सदुपयोग भी हो सकेगा। इसके अलावा जब इस सेवा में विस्तार होगा, तो बहुत सारे नए लोगों के लिए रोजगार के अवसर भी खुलेंगे। कहा जा सकता है कि जब ग्रामीण बैंक और सहकारी बैंकों के जरिए हर गांव तक बैंकिंग सेवाएं पहुंचाने की व्यवस्था पहले से है तो इसमें एक नई व्यवस्था शुरू करने और उस पर अतिरिक्त धन खर्च करने की क्या तुक थी! पर डाकघरों की पहुंच, उनकी विश्वसनीयता और कार्यप्रणाली बैंकों की तुलना में बिल्कुल भिन्न है। डाकघर लोगों तक खुद पहुंचता है, जबकि बैंकों तक लोगों को जाना पड़ता है।

डाकघरों की पहुंच देश के लगभग हर व्यक्ति तक है, चाहे वह पहाड़ की चोटी पर बसा अकेला घर ही क्यों न हो। जबकि बैंकों की सेवाएं हासिल करने के लिए लोगों को घर से दूर चल कर जाना होता है। फिर बैंकों में खाते खुलवाने और उनकी कार्यप्रणाली डाक सेवाओं की तुलना में अधिक तकनीकी है। डाकघर उसकी अपेक्षा आम लोगों की सुविधाओं के बहुत करीब है। डाकघर भी अब संचार तकनीक की आधुनिक सेवाओं से जुड़ चुके हैं, ऐसे में पैसे के लेन-देन में उन्हें मुश्किल नहीं आएगी। खासकर गरीब और अपढ़ लोग बैंक कर्मियों से संवाद करने की अपेक्षा डाकिये से संवाद करने में ज्यादा सहज महसूस करते हैं, इसलिए वे अपने डाक बैंक खाते के जरिए सरकारी योजनाओं का लाभ भी उठाने में सहज महसूस करेंगे।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 31-08-18

Inventing the Urban Naxal

An underground insurgent loves and needs a mythical aura. An insurgency is as much a reality, as it is the product of myths that the society, unable to comprehend them, weaves around the insurgent.

Ashutosh Bhardwaj , [Bhardwaj is a Hindi fiction writer]

In 1964, the USSR convicted Joseph Brodsky for writing poems and being a "social parasite". The judge recorded that "Brodsky has systematically failed to fulfill the obligations of a Soviet citizen with regard to producing material value". A person present at the trial said that "intellectuals" are "millstones around our neck", another wanted the USSR "to get rid of them all". It wasn't unusual. The vision of modernity was to foster a questioning spirit, but the nation-states it spawned have made the dissenter an accused. The vocabulary invented by the Soviet apparatus to establish the culpability of a young poet is not dissimilar from the one circulating in India against a perceived enemy, the Urban Naxal. Naxal guerrillas have waged a war and the state is mandated to defeat them.

However, it's problematic when the state invents a Naxal for its political gains. Many Left-leaning activists have been wrongly linked with Naxals. And in contrast, the Maoists have accused Left parties of being revisionists. They opposed CPI leaders in Bastar — eventually helping the BJP. The use of the term Urban Naxals indicates the state's failure to comprehend insurgency and its cynicism in capitalising on citizen's grievances. During a rally in Delhi in January 2015, Prime Minister Narendra Modi equated Arvind Kejriwal with Naxals. Even as rhetoric, the PM's statement was jarring. The Maoists have consistently rejected Kejriwal. In 2014, Ramdher, who headed the Abujhmaad battalion of the CPI (Maoist), was dismissive of the AAP leader in an interview with this writer. The then CPI (Maoist) spokesperson, Abhay, even stated that "the AAP was brought up on imperialist and NRI funds."

The projection about Urban Naxals may help the government gain immediate political support, but it could help the guerrillas in two ways. First, it perpetuates a myth about their spread and might. An underground insurgent needs a mythical aura. An insurgency is as much a reality as it is the product of myths that society weaves around the insurgent. In 2012, the CRPF entered the uncharted territory of Abujhmaad after meticulous preparation and found that the structures that appeared as the bunkers and scaffolding of guerrillas on Google maps were actually bamboo clusters. This, the cops conceded, unraveled many myths about the guerrilla zone. The Maoists thrive on such mythologies.

Second, if students, politicians and writers across the spectrum are hounded as Urban Naxals, one need not be a psychoanalyst to gauge its consequences. The definitions a state invents for its political harvest come to ring true in unintended ways. Salwa Judum had first made ordinary tribals staunch Naxal supporters, and then converted them into fighters. To script an imagined theatre of Urban Naxals is bad tactic, a political and moral blunder. The Maharashtra ATS may take clues from the Andhra-Telangana

police. In August-September 2014, the CPI (Maoist) celebrated the 10th anniversary of the merger of the PWG and the MCC. Programmes were held across Andhra-Telangana, the biggest ones in Hyderabad, close to the headquarters of the intelligence branch. Pamphlets were distributed, calls made for revolution, but the cops smiled. A senior cop told this reporter, a few speeches will not ruffle us.

The confidence has been replaced by nervousness, indicating that the government's anti-Maoist policy has become warped by its politics. In 2005, the Chhattisgarh government, supported by the UPA government at the Centre, termed tribals in Bastar as Naxals. That did help the BJP expand its electoral base in Bastar but it also ensured the surge of Maoist guerrillas. During Brodsky's trial, the judge mocked the young man: "Who said you are a poet? Who ranked you among poets?" "No one," said Brodsky. He was not even 24 when he was convicted. An up and coming poet then, Brodsky went on to win a Nobel in literature. The human race has an extraordinary characteristic. It displays resilience in the face of humiliation and injustice.

THE HINDU

Date: 31-08-18

Pride and foreign aid

India's refusal to take help in times of natural disasters is self-defeating and against the federal spirit

Happymon Jacob teaches Disarmament and National Security at the School of International Studies, JNU, New Delhi

The Central government's decision to decline offers of humanitarian aid from the United Arab Emirates and other concerned countries for Kerala, in the aftermath of the worst flood in the State in close to a century, is unfortunate. Whichever way one plays it, New Delhi's unwillingness to accept foreign aid reflects poor judgment, is bad optics, and goes against the spirit of cooperative federalism. Moreover, this decision, when read with the National Democratic Alliance government's adversarial attitude towards foreign-funded NGO activism in the country, suggests a sense of insecurity and paranoia that hardly befits a rising power.

While the government itself has been very cryptic in its response to the recent foreign aid offers, those in support of the government's informal decision have essentially made five sets of arguments to justify the government's decision. Let's examine their merit.

Policy precedent

The strongest argument by far for refusing foreign aid flows from past policy and practice. It is argued that there is a policy in place since 2004, enunciated by the then Prime Minister, Manmohan Singh, to not accept foreign aid in times of natural disasters. Dr. Singh had stated in the wake of the tsunami in December that year, "We feel that we can cope with the situation on our own and we will take their help if

needed." The practice thereafter has been to shun foreign aid during natural calamities because the government has been confident of "coping with the situation" using internal sources.

However, it is important to note that the 2004 statement by Dr. Singh was a political articulation, not a legal directive or policy document. In any case, his statement did not close the door to external aid ("we will take their help if needed"). Does Kerala need help? Yes, it desperately does. Former National Security Adviser Shivshankar Menon, in a recent tweet, explained the 2004 decision in the following words: "If memory serves, the 2004 decision was to not accept foreign participation in relief but accept it for long term rehabilitation case by case."

In any case, since 2004, various policy documents have explicitly and implicitly suggested that the government may accept foreign aid during emergencies. The 2016 National Disaster Management Plan states: "...if the national government of another country voluntarily offers assistance as a goodwill gesture in solidarity with the disaster victims, the Central Government may accept the offer." Similarly, the National Policy on Disaster Management of 2009 and the Disaster Management Act of 2005 are both positively inclined to coordinating with external agencies and institutions for disaster relief. The 2009 document even argues — thoughtfully so — that "disasters do not recognise geographical boundaries."

In short, while the 2004 policy says that foreign aid can be accepted if need be, the 2016 policy document states that the government "may" accept foreign aid. The question is whether the situation in Kerala can persuade the Centre to operationalise the word "may" in a generous manner.

National pride

The second argument against accepting foreign aid seems to flow from a sense of national pride: that India is a not a poor country any longer and hence it doesn't need anyone's charity. There was a time we were forced to go abroad with a begging bowl, but those days are over and we can look after ourselves, goes the argument. Despite its powerful emotional appeal, this argument is misplaced at several levels. For one, it is misleading to say that only poor states accept foreign aid in times of natural disasters. For instance, India's offer of aid was accepted by the U.S. in the wake of Hurricane Katrina in 2005, and by China after the 2008 Sichuan earthquake. The reality is that countries reeling under natural calamities routinely accept emergency aid from other countries irrespective of how rich or poor they are.

Self-sufficiency

The third argument is that India is self-sufficient and hence does not need relief material to deal with natural disasters. Here, it is important to make a distinction between foreign aid during normal periods and emergency humanitarian and reconstruction assistance. Besides, in the case of Kerala, by providing only a fraction of the emergency and reconstruction assistance requested by the State government despite repeated appeals, the Central government seems to have implicitly indicated that there aren't sufficient funds available. Although New Delhi has taken the line that "in line with the existing policy, the government is committed to meeting the requirements for relief and rehabilitation through domestic efforts," its actions so far fly in the face of this tall claim. So, if New Delhi is unable to heed Thiruvananthapuram's urgent requests, shouldn't it let Kerala take help from outside?

Aid with strings

Then there is the argument that foreign aid comes with strings attached. Yes, it has in the past, especially developmental assistance from Western nations or the World Bank. Aid and loans often came with demands of economic restructuring or resetting governance priorities, and an occasional sermon on human rights. But there is again a fundamental difference between such funding and humanitarian assistance. Hence the argument that UAE's disaster relief to Kerala would come with strings attached is ludicrous. Abu Dhabi's rationale for offering aid to Kerala is straightforward: the Malayali population in UAE has been crucial in its development, and the aid offer is a recognition of that bond.

A related issue is the paranoia displayed by successive governments in New Delhi about the 'foreign hand/s' constantly trying to undermine the Indian state. This has increased over the years, particularly under the current regime: consider the manner in which it cancelled the Foreign Contribution (Regulation) Act (FCRA) licenses of thousands of NGOs, including Greenpeace and Amnesty, depriving them of foreign funding.

Ironically, even as New Delhi vows to continue the policy of not allowing foreign humanitarian aid, and of restricting the activities of foreign-funded NGOs, it recently amended the FCRA to allow foreign funding of Indian political parties.

Money won't bring relief

The fifth argument is that airdropping monetary aid doesn't help in the absence of pre-existing administrative capacity for proper distribution, reconstruction and governance. In fact, some would argue that monetary aid without a focus on governance capacity building is useless or could even make the situation worse. While there is some merit in such an argument, this holds little relevance to the case of Kerala which happens to be one of India's best governed States. What Kerala requires at the moment is monetary assistance, not lessons in governance.

New Delhi's unilateral decision to not let humanitarian assistance reach a needy State also does not befit the federal character of the country as the spirit of federalism demands that such crucial decisions be taken after consultations with the stakeholders. The Union government should consult the affected federating units, which have large populations to care for, before crucial decisions of this nature are taken. The argument here is not that India should seek/ receive regular foreign aid, but that it should accept foreign aid in times of humanitarian emergency, as do several countries, including the U.S., China and Japan. Moreover, there is an urgent need to evolve sensible, practical and empathetic guidelines on receiving emergency aid for the federal units in times of dire need.

Date: 31-08-18

The fear of a black flag

It is a worrying sign when the state begins to display zero tolerance for political activism among students

G. Sampath , [The writer is Social Affairs Editor, The Hindu]

In July, two girls from Allahabad University, Neha Yadav and Rama Yadav, and another student, Kishan Maurya, waved black flags in front of Bharatiya Janata Party president Amit Shah's convoy. They were protesting against the treatment of students by the Uttar Pradesh government. The response from the government was brutal. The flag-waving girls were dragged by the hair, beaten, and had cases slapped against them on charges of rioting and disturbing the peace.

This is not the first such case. Last year, another student from U.P., Pooja Shukla, had to spend nearly a month in jail for showing black flags to U.P. Chief Minister Yogi Adityanath. There are two pertinent points to consider here: the black flag, and the person waving it, a university student. What is it about this combo that seems to terrify the state so much?

Waving a black flag is perhaps the most innocuous form of non-violent protest imaginable. It is not a dharna, it is not a march or a public rally, and it doesn't involve the narrative build-up of a rousing speech — all of which are legitimate means of protest protected under the Indian Constitution. However, while all of these are collective expressions of dissent, requiring resources and coordination among a good number of like-minded people, waving a black flag requires nothing more than a piece of black cloth or a rag. It is a form of protest that is available to the lone individual, to a citizen unaffiliated to any political party or group but who nonetheless wants to communicate her dissent to a representative of the state that she believes has grown deaf to her complaints.

Unlike a hunger strike, which, too, is a means of protest available to the individual, waving a black flag doesn't even need publicity from the mass media to build pressure in favour of thedemands. All that is needed is for a few others — fellow citizens, onlookers — to witness the few seconds of the gesture, and it is done. But today even this modest symbolic protest seems intolerable to the public servants of a country that prides itself on being a democracy.

What is particularly ironic is that the state's reprisals — Ms. Shukla claimed that she has been denied admission to a postgraduate course because of her act of protest — are being visited upon girl students. This makes a mockery of the 'Beti Bachao, Beti Padhao' campaign that is being propagated extensively using public money. Police cases and jail time, in addition to being academically disruptive, are bound to damage a young student's career prospects. This is a steep price to pay for exercising one's constitutional right. It is a worrying sign when a government that has seen scores of elected representatives emerge from student politics begins to display zero tolerance for political activism among students.